दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

वर्ष : १
अंक : ६

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

मगसिर
२४७२

★

हृदयोद्गार

(१) तूने आज तक अन्य को (जीव या जड़ को) किंचित्मात्र भी हानि या लाभ पहुँचाया ही नहीं है।

(२) आज तक किसी ने (जड़ या जीव ने) तुझे किंचित्मात्र भी हानि या लाभ नहीं पहुँचाया।

(३) आज तक तूने सतत् अपने लिये मात्र हानि का ही धंधा किया है। और जब तक वास्तविक समझ नहीं आयेगी, तब तक यह हानि का धंधा चलता ही रहेगा।

(४) वह हानि तेरी क्षणिक अवस्था में हुई है, तेरी वस्तु में हानि नहीं हुई है।

(५) तेरी चैतन्य वस्तु ध्रुव-अविनाशी है; इसलिये उस ध्रुव स्वभाव की ओर लक्ष (दृष्टि) दे तो शुद्धता प्रगट हो जाय, हानि टल जाय और अटल लाभ का धंधा हो जाय।

- परम पूज्य श्री कानजी स्वामी

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

अनेकान्तवाद और मिथ्यावाद

१- आत्मा स्व रूप से है पर रूप से नहीं, यह अनेकान्तवाद है।
आत्मा स्व रूप से भी है और पर रूप से भी है, यह मिथ्यावाद है।

२- आत्मा स्वयं अपना ही सुधार-बिगाड़ कर सकता है, शरीरादि सब पर का नहीं, यह अनेकान्तवाद है।
आत्मा अपना और पर का भी बिगाड़-सुधार कर सकता है, यह मिथ्यावाद है।

३- आत्मा के शुद्ध भाव से धर्म होता है, शुभ भाव से नहीं, यह अनेकान्तवाद है।
आत्मा के शुद्ध भाव से और शुभ भाव से दोनों से धर्म होता है, यह मिथ्यावाद है।

४- निश्चय स्वरूपाश्रय से धर्म होता है और व्यवहार स्वरूपाश्रय से धर्म नहीं होता, इसका नाम अनेकान्तवाद है।
निश्चय स्वरूपाश्रय और व्यवहार स्वरूपाश्रय दोनों से धर्म होता है, यह मिथ्यावाद है।

५- व्यवहार का अभाव होने पर निश्चय प्रगट होता है, यह अनेकान्तवाद है।
व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, यह मिथ्यावाद है।

६- आत्मा को आत्मस्वरूप से ही लाभ होता है, शरीरादि की क्रिया से लाभ नहीं होता, यह अनेकान्तवाद है।
आत्मा को आत्मस्वरूप तथा शरीरादि की क्रिया दोनों से लाभ पहुँचता है, यह मिथ्यावाद है।

७- एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो शक्ति प्रगट होकर वस्तुस्वरूप को सिद्ध करती हैं, ऐसा मानना अनेकान्तवाद है।
एक वस्तु में अन्य वस्तु की शक्ति प्रगट होकर वस्तु स्वरूप को सिद्ध करती है, ऐसा मानना मिथ्यावाद है।

८- स्याद्वाद द्वारा सर्व वस्तुओं के सत्य स्वरूप को बतानेवाला सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित अमोघ साधन अनेकान्तवाद है।
असत्कल्पना से एक वस्तु के स्वरूप को अन्यरूप प्रतिपादित करनेवाला मिथ्यावादियों का साधन मिथ्यावाद है।

९- जैनशासन का 'ट्रेडमार्क' अनेकान्तवाद है।
जैनधर्म का कट्टर दुश्मन मिथ्यावाद है।

१०- वस्तु का स्वयमेव प्रकाशित होनेवाला स्वरूप अनेकान्तवाद है।
वस्तु स्वरूप में मिथ्यावादियों द्वारा की गई असत्कल्पना मिथ्यावाद है।

मुद्रक—चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड़; ता. ३-१-४६
प्रकाशक—जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, सुवर्णपुरी-सोनगढ़-काठियावाड़

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : ६

आत्मधर्म

मगसिर
२४७२

★ ★ ★ ★

अशुभ भाव से बचने के लिये शुभ का अवलम्बन तो ठीक है, किन्तु उस शुभभाव के द्वारा धर्म तीन काल और तीन लोक में नहीं हो सकता। यहाँ तो मान्यता को बदलने का उपदेश है। धर्म तो आत्मा का अविकारी स्वभाव है; गुरुगम से उस स्वभाव को जानकर, सच्ची समझ का अभ्यास करके विपरीत मान्यता को छोड़कर, विकार का कर्ता नहीं है, पुण्य के शुभ विकल्प मेरे स्वभाव में नहीं है, और न वह मेरा कर्तव्य ही है, यों मानकर तथा निर्मल पर्याय के भेद का लक्ष गौण करके अखण्ड ज्ञायक ध्रुव स्वभाव को श्रद्धा के लक्ष में उतार लेना, सो शुद्धनय का विषय है, और उसका फल मोक्ष है। शुद्धनय का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है। यह बात श्रावक और मुनि होने से पहले की है।

मैं आत्मा तो अखण्ड ज्ञायक ही हूँ। मैं पर का स्वामी, कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ। शुभ या अशुभ विकार मात्र भी करने योग्य नहीं हूँ। ऐसे स्वभाव का अपूर्व भान गृहस्थ दशा में भी हो सकता है। बड़ा राजा हो या सामान्य आदमी, स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या आठ वर्ष का बालक; किन्तु सभी अपने अपने स्वभाव से स्वतन्त्र पूर्ण प्रभु हैं। इसलिए अन्तरंग में सभी स्वभाव का भान कर सकते हैं।

जब तक जीव व्यवहार-मग्न है, और बाह्य साधन में धर्म मानता है तथा क्रियाकाण्ड की बाह्य प्रवृत्ति में गुण मानता है, तब तक उसे ऐसा पूर्ण शुद्ध आत्मा का ज्ञान श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता कि पर से भिन्न अविकारी अखण्ड ज्ञायक आत्मा निरावलम्बी है।

इस बात का विशेषत: श्रवण-मनन करना चाहिये और परमार्थ निर्मल वस्तु का निरंतर बहुमान होना चाहिये। अपनी निजी सावधानी, उत्साह और पुरुषार्थ के बिना अपूर्व फल नहीं मिल सकता।

मान्यता बदलो

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन

श्रद्धा, रुचि और वीर्य

समयसार, बंध अधिकार, गाथा २८७

परपदार्थ के निमित्ताधीन होनेवाले भावों से आत्मा में बंधन होता है। स्वाधीन स्वभाव से च्युत हुआ और आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थ के आधीन भाव हुए कि आत्मगुणों की हीनता हुई। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें पर के प्रति रुचि या प्रीति काा होना ही बंध का कारण है। वह पर की रुचि क्योंकर छूटे और निर्मल भूमिका कैसे बढ़ती जाय तथा किस प्रकार के संयोग छूटते चले जायँ, यह सब मुनि के दृष्टान्त से समझाते हैं।

शरीर से भिन्न आत्मा, पुण्य-पाप का कर्ता नहीं है, ऐसा भान होने पर छठ्ठी भूमिका की बात है। आत्मा ज्ञाता ही है, और शुभाशुभ का अनुभव (लागणी) होना उपाधिभाव है—मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं तो ज्ञान से ही परिपूर्ण हूँ, इस प्रकार का निर्णय सर्व प्रथम करना चाहिये। वस्तुस्वभाव में परिपूर्णता ही है। और जो वर्तमान कमी मालूम होती है, वह पराधीन भाव के कारण दिखती है। पराधीन भाव उस वस्तु का स्वभाव नहीं है, इसलिए वस्तु में कमी नहीं है। जिसने परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव को माना, उसने यह मान लिया कि राग-द्वेष अपने नहीं हैं।

आत्मा का स्वभाव ही है जानना। जानने में जो तीन लोक और तीन काल नहीं ज्ञात होते अथवा आन्तरिक अनन्त गुण प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते, इस प्रकार ज्ञान की वर्तमान दशा में जो कमी दिखाई देती है, वह कमी स्वभाव में नहीं है। आत्मा जाननेवाला है और जिसका स्वभाव ही जानना है, वह आगामी काल की बात न जान सके, ऐसा उसका स्वभाव तो नहीं हो सकता। 'नहीं जानना' यह उसके स्वभाव में आ ही नहीं सकता। वर्तमान अवस्था में जो ज्ञान की शक्ति हीन मालूम होती है, वह विकार के कारण राग-द्वेष भाव को लेकर जो हीन ज्ञान ज्ञात होता है उसके कारण है। राग-द्वेष स्वभाव नहीं है। जब यह निर्णय हो जाय कि ज्ञानस्वभाव परिपूर्ण है, तब कहलायेगा कि समस्त ज्ञानस्वभाव जान लिया गया।

जिसका स्वभाव ही जानना है, उस में नहीं जानना या कम जानना आ ही कैसे सकता है? फिर भी विकार के कारण वर्तमान अवस्था में कम ज्ञात होता है। विकार, ज्ञानस्वभाव में नहीं हो सकता; इसलिए विकार का नाश करके जो परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव प्रगट करूँ वह मैं हूँ। मुझ में विकार नहीं है; जो परिपूर्ण ज्ञान है, वही मैं हूँ।

आत्मा में त्रिकाल की बात को एक ही समय में जानने की शक्ति है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। उसका स्वभाव है तीन लोक तीन काल और आत्मा के अनन्त गुणों को एक ही समय

में जानना। वर्तमान में जो कुछ परिज्ञात नहीं होता, वह विकार के कारण ज्ञान की हीन दशा है; किन्तु वह हीन दशा मैं नहीं हूँ, और रागादि भी मैं नहीं हूँ, मेरा ज्ञान-स्वभाव परिपूर्ण है। स्वभाव में हद-मर्यादा, कमी या राग-द्वेष नहीं है। जिसने ज्ञान को परिपूर्ण माना, उसने यह भी माना कि राग-द्वेष नहीं है, और जिसने अपने को रागादिरूप माना उसने परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव को नहीं माना, यह सुनिश्चित है।

ज्ञान : निमित्ताधीन, विकार के कारण जो अधूरा ज्ञान है, वह मैं नहीं हूँ। मैं तो परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव ही हूँ।

दर्शन : जो देखने की परिपूर्ण शक्ति है, वही मैं हूँ।

श्रद्धा : श्रद्धा नामक गुण आत्मा को परिपूर्ण ही मानता है। यों मानना सो मानने का विषय परिपूर्ण और मान्यता भी परिपूर्ण कहलायेगी।

चारित्र : जो वर्तमान में रागादि को कम कर सकता है, उसका चारित्र द्वारा पूर्ण स्थिरता करके वीतराग होने का स्वभाव है। जो स्थिरता में बाधक है—ऐसा रागादि, आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता।

आनन्द : संसारादि तथा सुख-दु:ख की कल्पना विकारी है, वह मैं नहीं हूँ, मैं उससे मुक्त एकमात्र परिपूर्ण हूँ; इस प्रकार की प्रतीति करना, सो वही आत्मा के परिपूर्ण गुण को स्वीकार करना है।

वीर्य : मैं आत्मबल से परिपूर्ण हूँ; आत्मबल से ज्ञान की पूर्णता-केवलज्ञान प्रगट करने का जो स्वभाव है, उसमें जो वर्तमान में कमी मालूम होती है, वह मैं नहीं हूँ। (वीर्य-आत्मबल)

यह तो अभी प्रथम श्रद्धा करने की बात है। पहले परिपूर्ण की श्रद्धा किये बिना वीतरागता आयेगी कहाँ से? अनन्त काल से आत्मा को यथार्थरूप में माना ही नहीं है। अभी तक मात्र विकारी अवस्था को और रागादि को ही माना है, उसके परिपूर्ण स्वरूप को नहीं माना। परिपूर्ण स्वरूप की श्रद्धा प्रगट हुए बिना धर्म की गन्ध भी नहीं हो सकती। अखण्ड परिपूर्ण श्रद्धा के बिना व्रत या महाव्रत भी सच्चे नहीं हो सकते।

दान और लाभ : एक-एक समय में मेरी जो परिपूर्ण शक्ति है, उसे प्रगट करके लाभ प्राप्त करने का मेरा स्वभाव है; एक क्षण भर में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य आदि समस्त परिपूर्ण गुणों का लाभ ले सकता हूँ और अपने को दान (अर्थात् आत्म स्वरूप की परिपूर्णता का आदान प्रदान) कर सकता हूँ तथा एक क्षण में "जैसा देना वैसा लेना" कर सकता हूँ-जिसने ऐसा माना, उसने परिपूर्ण आत्मा को माना है। जिसे अभी परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा ही नहीं है उसे परिपूर्ण की रुचि नहीं है और रुचि के बिना वीर्य नहीं हो सकता। **परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा और प्रतीति के बिना परिपूर्ण का पुरुषार्थ नहीं हो सकता।**

(गतांक से आगे)

जैनधर्म (२)

लेखक : रामजी माणेकचंद दोशी

९- आत्मस्वरूप की विपरीत मान्यता को जैनधर्म में मिथ्यात्व कहा गया है। और वह मिथ्यात्व संसार की (अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप से चलित होने की) जड़ है, वही जीव के दु:ख का कारण है। पर, सुख-दु:ख का कारण नहीं है। किन्तु जीव परावलंबी सुख-दु:ख की कल्पना कर लेता है। सम्यग्दर्शन, मोक्ष की (आत्मा की पूर्ण पवित्रता की) जड़ है।

१०- **आत्माज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।**
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥ *(समयसार कलश)*

अर्थ—आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के सिवा और करेगा क्या? आत्मा, परभाव का कर्ता है, यह मानना व्यवहारी जीवों का केवल मोह (अज्ञान) हैं।

११- अत्यन्त वीतराग हुए बिना आत्यंतिक मोक्ष नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के बिना वीतराग नहीं हो सकता। बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। वस्तु की स्थिति जिस स्वभावरूप है, उसे उसी स्वभावरूप में समझना, सो सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से प्रतीत तथा ज्ञात आत्मा में आत्मभाव से वर्तन करना, सो चारित्र है। इन तीनों की एकता से मोक्ष होता है।

१२- **जीवो चरित्त दंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयंजाण।**
पुग्गल कम्म पदेसट्ठियं च तं जाण पर समयं॥ *(समयसार)*

अर्थ—जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित है, उसे वास्तव में स्वसमय (शुद्ध आत्मा) जानो; और जो जीव पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित है, उसे परसमय (अशुद्ध आत्मा) जानो।

१३- **ववहारोऽभुयत्थो भुयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

अर्थ—व्यवहारनय अभूतार्थ है, और शुद्धनय भूतार्थ है, यह ऋषिवरों ने बताया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

[नय का अर्थ दृष्टि - View Point है]

१४- **अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।**
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमितंपि॥३४॥

अर्थ—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमित आत्मा यों जानता है कि मैं वास्तव में एक हूँ, शुद्ध

हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, कोई भी अन्य द्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चित है।

१५—आत्मा अपने भावों का कर्ता भोक्ता है, पर के भावों का नहीं, यह बताया जाता हैं—

णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तइवे जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोहंपि॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गल कम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्व भावाणं॥८२॥

अर्थ—जीव न तो कर्म के गुणों को करता है और न कर्म, जीव के गुणों को करता है, किन्तु परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम जानो। इसलिए आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है; पुद्गलकर्मकृत सर्व भावों का कर्ता नहीं है।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं॥८३॥

अर्थ—वास्तव में आत्मा अपने ही भावों को करता है, और अपने ही भाव को भोगता है, यों तू निश्चय से जान।

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्ण ह्मिदुण ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कहतं परिणामए दव्वं॥१०३॥

अर्थ—जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणरूप है, वह अन्य द्रव्य तथा गुण में संक्रमण नहीं कर सकती। जो अन्यरूप संक्रमण नहीं पा सकती, वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमित कर लेगी?

१६- **पुण्य-पाप का स्वरूप—**

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणइ सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥१४५॥

अर्थ—अशुभ कर्म कुशील (खराब) है और शुभ कर्म सुशील (अच्छा) है, यह तुम जानते हो; तब फिर वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है?

परमट्ठवाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता॥१५४॥

अर्थ—जो परमार्थ से बाह्य हैं, वे मोक्ष के हेतु को नहीं जानते हुये अज्ञान से पुण्य को (मोक्ष का हेतु जानकर) चाहते हैं; यद्यपि पुण्य संसार गमन का कारण है।

१७- **जीव के विकारी भावों का स्वरूप—**

णादूण आसवाणं असुचितंच विवरीयभावं च।
दुक्खस्सकारणं ति य तदो णियतिं कुणदि जीवो॥७२॥

अर्थ—आस्रवों की (विकारी भावों का) अशुचिता, विपरीतता, तथा दु:खकारणता जानकर जीव उनसे निवृत्त होता है।

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥७१॥

अर्थ—जब यह जीव अपनी आत्मा और आस्रवों के बीच का अन्तर जानता है, तब उसे बंध नहीं होता। (आत्मा और जीव एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं)

१८- **जीव के शुभाशुभ भावों के रोकनेवाले (संवर) का स्वरूप—**

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥१८६॥

अर्थ—शुद्ध आत्मा को जानने और अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्मा को ही पाता है; और अशुद्ध आत्मा को जानने तथा अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्मा को पाता है।

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को जायदि अप्पाणा मप्पणाअथा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं॥१८८॥

अर्थ—आत्मा को आत्मा के द्वारा दो पुण्यपापरूप शुभाशुभ योगों से रोककर दर्शन ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य (वस्तु) की इच्छा से विरम कर जो आत्मा (इच्छा रहित होने से) सर्व संग रहित होता हुआ, अपनी आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है; कर्म और नोकर्म (शरीर) को नहीं ध्याता। ज्ञातादृष्टा होने से एकत्व का ही चिन्तवन करता है, जानता है, अनुभव करता है। उस आत्मा को ध्याता हुआ दर्शन ज्ञानमय होकर और अन्यरूप नहीं होकर अल्पकाल में ही अविकारीपन को पा लेता है।

१९- **पूर्व के विकारी भावों को दूर करने (निर्जरा) का स्वरूप—**

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को॥१९८॥

अर्थ—कर्मों के उदय का विपाक (फल) जिनवरों ने अनेक प्रकार का वर्णन किया है,

वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ।

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो॥२००॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, आत्मा को (निज को) ज्ञायक स्वभाव जानता है, और तत्त्व को (यथार्थ स्वरूप को) जानता हुआ कर्म के विपाकरूप उदय को छोड़ता है।

२०- **बंधः-मिथ्या अभिप्रायपूर्वक के रागद्वेष से होता है—**

जो मण्णादि हिंसामिय हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो॥२४७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सोधि य कम्मोदयेण चेव खलु
तह्माण मारिदो णो दुहाविहो चेदि ण हु मिच्छा॥२५८॥
एसा दु जा मई दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं॥२५९॥

अर्थ—जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ (हनन करता हूँ) और पर जीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। और इससे विपरीत (अर्थात् जो ऐसा नहीं मानता) वह ज्ञानी है।

और जो नहीं मरता और न दुःखी होता है, वह भी वास्तव में कर्मोदय से ही होता है; इसलिए 'मैंने नहीं मारा या मैंने नहीं दुःखी किया' ऐसा जो तेरा अभिप्राय है, वह क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है?

तेरी जो यह बुद्धि है कि मैं जीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ, तेरी यह मूढ़ बुद्धि (मोह स्वरूप बुद्धि ही) शुभाशुभ कर्म का बंध करती है।

२१- **सम्पूर्ण विकारी भावों को दूर करने से मोक्ष होता है—**

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुर्णइ॥२९३॥

अर्थ—बंध और आत्मा का स्वभाव जानकर जो बंध भाव से विरक्त होता है, वह विकारी भाव से मुक्त होता है।

—सत् (वास्तविक) और असत् (अवास्तविक) का भेद जाने बिना चाहे जैसा (यथानुकूल) मान लेनेवाला ज्ञान विचारशून्यता की उपलब्धि है, और वह उन्मत्तवत् होने से अज्ञान है।

यदि प्रकारान्तर से कहा जाय तो जीव के अनादि काल की सात भूलें हैं, उन्हें समझे जाने बिना दूसरा चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करे, और अन्य चाहे जो करे तो भी जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ यह बताया जाता है कि वे सात भूलें कौन-कौन सी हैं—

(१) शरीर को जीव समझना—शरीर की कोई क्रिया जीव कर सकता है, यह मानना। (यह है जीव तत्त्व की मिथ्या श्रद्धा)

(२) शरीर की उत्पत्ति में अपनी उत्पत्ति और शरीर के वियोग में अपना वियोग मानना। (यह है अजीव तत्त्व की मिथ्या श्रद्धा)

(३) रागादि प्रगटरूप में दु:ख देते हैं, फिर भी उन्हें सुख मानकर सेवन करना (यह है आस्रव तत्त्व की मिथ्या श्रद्धा)

(४) शुभ बंध के फल में खुश होना और अशुभ बंध के फल में नाखुश होना। (यह है बंध तत्त्व की मिथ्याश्रद्धा)

(५) आत्महित का हेतु स्वरूप का ज्ञान, और उस ज्ञानपूर्वक वैराग्य है; उसे कष्ट दायक मानना। (यह है संवर तत्त्व की मिथ्याश्रद्धा)

(६) शुभाशुभ भाव की इच्छा को नहीं रोक सकना। (यह है निर्जरातत्त्व की विपरीत श्रद्धा)

(७) निराकुलता को मोक्ष का स्वरूप नहीं मानना। (यह है मोक्षतत्त्व की उल्टी श्रद्धा)

इन तमाम मान्यताओं की भूलें एक ही साथ जाती हैं और इनके दूर हुये बिना किसी के सुख हो नहीं सकता, इसलिए इस बात को बराबर समझ लेना चाहिए।

इसी बात को प्रकारान्तर से यों कह सकते हैं कि जीव के साथ अनादिकाल से सात व्यसन लगे हुए हैं, जीव जब उन्हें छोड़े तब ही वह सुखी हो सकेगा, इसलिए उन सप्त व्यसनों का स्वरूप यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है—

(१) अशुभ में हार औ शुभ में जीत मानना, सो जुआ है।

(२) शरीर में लीन होना (एकत्व बुद्धि), सो माँस भक्षण है।

(३) भ्रमणा से मूर्छित होकर, स्वस्वरूप का भूल जाना, सो मदिरापान है।

(४) कुबुद्धि के मार्ग पर चलना, सो वेश्यासेवन है।

(५) कठोर परिणाम से प्राणघात करना (भावमरण करना), सो शिकार है।

(६) देह-रागादि में एकत्वबुद्धि (आत्मबुद्धि) रखना, सो परनारी का संग है।

(७) अनुरागपूर्वक परपदार्थों को ग्रहण करने की अभिलाषा, सो भावचोरी है।

जो आत्मा शुद्धस्वरूप के पहचानता है, वही इन सप्त व्यसनों को टाल सकता है और वही सुखी हो सकता है।

अहिंसा परमो धर्म — यह लोक प्रचलित सूत्र है। सामान्य लोग 'अहिंसा' का अर्थ करते हैं 'परजीव का मरण नहीं करना' किन्तु यह स्थूल अर्थ है। अहिंसा का वास्तविक अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणाम को घातनेवाला भाव, सो हिंसा है; इसलिए अपनी आत्मा का शुद्ध उपयोग, सो अहिंसा है। वह अहिंसा ही परम धर्म है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अहिंसा का दूसरा अर्थ संभवित नहीं होता।

(२) वास्तव में रागादि भावों का प्रगट न होना, सो अहिंसा है, और रागादि भावों की उत्पत्ति होना, सो हिंसा है। यह जैनशासन का संक्षिप्त रहस्य है।

जीव स्वाश्रय और पराश्रयरूप दो प्रकार के भाव कर सकता है। इनमें स्वाश्रय भाव शुद्ध हैं और वही धर्म है। पराश्रय (पराधीन) भाव दो प्रकार का है—एक शुभ और दूसरा अशुभ। यह दोनों संसार के कारण हैं। लोगों में भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'स्वाधीनता समान सुख नहीं और पराधीनता समान दु:ख नहीं है।' तत्त्वज्ञानी उक्त प्रकार से स्वाधीनता और पराधीनता का अर्थ करते हैं।

पराश्रयभाव सदा परालंबन चाहते हैं। जैसे किसी के मारने का विचार हुआ, तो वह पर की ओर लक्ष दिये बिना नहीं हो सकता, किसी को सुविधा देने का भाव भी पर की ओर उन्मुख हुए बिना नहीं हो सकता, इसलिए वे दोनों ही विकारी हैं। इनमें से जैन सब जीवों को 'पाप' (अशुभभाव) करने की मनाही करते हैं। समस्त पापों में से अपने स्वरूप का भ्रम महा पाप है। उसे दूर किये बिना किसी जीव के धर्म नहीं हो सकता। इसलिए मिथ्यात्व की संक्षिप्त व्याख्या यहाँ दी जाती है।

(१) स्व-पर एकत्व का अभिप्राय, अर्थात् आत्मा और राग (भले ही वह पुण्य का हो या पाप का) तथा देह इत्यादि की एकत्वबुद्धि।

(२) जीव की जिस मान्यतानुसार जगत में होता नहीं हो, वह मान्यता मिथ्यात्व है।

(३) आत्मस्वरूप का झूठा अभिप्राय, सो मिथ्यात्व है। जब जीव को मिथ्यात्व या भ्रम होता है, तब उसे निमित्त भी कुगुरु, कुदेव या कुशास्त्र का मिल जाता है। किन्तु जिसे सच्चे निमित्त मिलते हैं, वह सम्यग्दृष्टि होता ही है, यों नहीं मान लेना चाहिए। इसलिए कुगुरु और कुदेवादि को जानने के लिये सुगुरु और सुदेवादि का स्वरूप जान लेना चाहिए। इनका स्वरूप

जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध जो 'नमस्कार मन्त्र' है, उसमें बताया गया है। वह मन्त्र है—

'णमो अरिहंताणं; णमो सिद्धाणं; णमो आयरियाणं; णमो उवज्झायाणं; णमो लोए सव्व साहूणं।'

इसमें प्रथम के दो पद सुदेव का स्वरूप सम्पूर्ण वीतरागता बता रहे हैं। अरिहंत सशरीरी वीतराग हैं और सिद्ध अशरीरी वीतराग हैं। अन्तिम तीन पद उनके द्योतक हैं जिनने सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक आंशिक वीतरागता प्रगट कर ली है और जो अल्प समय में ही सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने की योग्यता पा चुके हैं। प्रथम को आप्त भी कहते हैं।

'जैनधर्म वीतराग प्रणीत है,' यह आगे कहा जायेगा। यदि उसका रहस्य एक शब्द में कहा जाय तो वह 'वीतरागता' है। इसलिए जिनने यह गुण प्राप्त कर लिया हो, वही सुगुरु और सुदेव हो सकता है; और आप्त प्रणीत शास्त्र सुशास्त्र कहे जाते हैं। जीव को पात्रता प्राप्त करके यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिए। इससे यह भी ज्ञान हो जायेगा कि जैनधर्म गुण पूजा को स्वीकार करता है, व्यक्तिपूजा को नहीं। बिना गुणी के गुण ही नहीं हो सकता; इसलिए गुणी की पूजा ही जैन शास्त्रों को मान्य है।

धर्मात्मा को आत्मस्वरूप का भान हो जाने पर पूर्ण वीतरागता प्राप्त नहीं हुई हो, तब वह स्वरूप में रहने का पुरुषार्थ करता है, किन्तु वह जब रह नहीं सकता, तब अशुभभाव दूर करने के लिये शुभभाव में आता है; किन्तु वह शुभभाव को कभी धर्म नहीं मानता। *क्रमशः*

★ ★ ★ ★

(१) विश्व की कोई भी शक्ति सत्य को नहीं रोक सकती।
(२) जैनधर्म वस्तुस्वरूप को बतानेवाला विश्वधर्म है।
(३) परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति पुरुषार्थ से ही होती है।
(४) जैन कर्मवादी नहीं, अपितु स्वभाववादी है।
(५) आत्मधर्म की सदा उन्नति हो, उन्नति हो।
(६) धर्म वस्तु का स्वतंत्र स्वरूप है, धर्म पराधीन नहीं।
(७) जिन्होंने शासन का गौरवगान (जयध्वनि) सर्वत्र गुंजा दिया है, ऐसे स्वरूपस्थित श्री सद्गुरुदेव के प्रभाव का उदय जगत का कल्याण करे, जयवन्त रहे।

उपदेश में निमित्त का कथन किसलिए बताया ?

(पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का समयसार गाथा २८८, ८९, ९० विषयक प्रवचन से)

कहाँ तो चैतन्य भगवान आत्मा का स्वभाव और कहाँ जड़ कर्म का स्वभाव ! आत्मस्वभाव की सामर्थ्य का ज्ञान न करेगा और मात्र जड़ कर्मों को मानेंगे तो बन्धनों को किसके बल से तोड़ेगा ? जो जड़ में आत्मबुद्धि करता है, उसे आत्मस्वरूप की प्रतीति कैसे हो सकती है ? ज्यों ही आत्म-स्वरूप का अनुभव हुआ, निमित्त का आश्रय छूटा, त्यों ही जन्म-मरण का अभाव हो जाता है। परन्तु मात्र निमित्त का ही लक्ष करे और उपादान को न जाने तो मुक्ति कदापि नहीं हो सकती। उपादान के लक्षित हो जाने पर शुद्ध चैत्न्य स्वभाव या ज्ञान स्वभाव की स्थायी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता का प्रादुर्भाव होने पर बन्ध का नाश अवश्य होता है।

बन्ध के स्वरूप को जान लेना और उनका विचार करना ही बन्धन मुक्ति का उपाय नहीं है, अपितु बन्धन से मुक्ति का उपाय तो पूर्ण सामर्थ्य की दृष्टि पूर्वक पुरुषार्थ ही है। निकांचित कर्म भी जड़ हैं, वे आत्मा के पुरुषार्थ को रोक नहीं सकते। आत्मा के जिस वीर्य ने विपरीत पुरुषार्थ कर कर्मबन्ध किया है, वह वीर्य सुल्टा होवे तो क्षण मात्र में कर्म को तोड़ सकता है। तू उत्कृष्ट स्थितिवाला है या कर्म ? किसकी स्थिति अधिक है ? हे आत्मा ! सर्वशक्ति तुझ में ही भरी है।

परन्तु अनादि काल से तूने पर का ही आश्रय धारण किया है। अतः तुझे स्वाश्रय की प्रतीति ही नहीं। घर में विवाहोत्सव के समय "भंगी जीम गया या नहीं" इस तरह भंगी को तो याद करे परन्तु घर के भाई जीम गए या नहीं, इस बात को याद न करे; तो क्या यह योग्य है ? भाई को भूलकर भंगी को याद करना मूर्खता ही है। इसी प्रकार अनन्त गुण के पिण्डरूप, सर्वदा सहचारी बन्धुरूप चैतन्य भगवान का तो आदर न करे, पहिचान न करे और अल्प कालवर्ती कर्म से मैत्री स्थापित करे तो ऐसा करनेवाले सिवाय मूर्ख के और क्या कहे जावेंगे ? ऐसे अज्ञानी प्राणी मुक्ति नहीं पा सकते।

तुझे निमित्त का जो ज्ञान बताया, वह इसलिए नहीं था कि निमित्त को तू प्रबल मान बैठ और तू उसका दास हो जावे। बल्कि उसका कथन इसलिए था कि उसके आधीन होकर तू जो विकार करते है, वह तेरा स्वरूप नहीं। इस प्रकार सत्य पुरुषार्थ जागृत करने के लिए ही वह कथन था। इसलिए नहीं कि तू उस से चिपट कर अपने को नगण्य मान बैठ। इसलिए कर्म की दृष्टि को त्याग और शुद्धस्वरूप की तरफ लक्ष्य रख। भगवान का उपदेश धर्म-वृद्धि के लिए है।

उसे तद्रुप न समझ कर विरुद्ध मानेगे तो वीतराग वाणी के निमित्त का भी उसे ज्ञान नहीं, यह स्पष्ट है। ''सब जीवों को शासन प्रेमी बना दूँ'' इस शुभभावपूर्व बाँधे गए तीर्थंकर नामकर्म के उदय होने पर जो वीतराग की दिव्यध्वनि प्रगटती है, वह स्वभाव धर्म (आत्मधर्म) की वृद्धि के लिए ही है। वह ध्वनि उद्बोधित करती है कि हे प्राणी! 'तू जाग, जाग। तेरी मुक्ति अल्प काल में ही होनेवाली है। तेरा स्वभाव परिपूर्ण पुरुषार्थमय है। इसकी पहिचान कर'। इसलिए निमित्त का उपदेश तुझे किया गया है।

★ ★ ★ ★

पुण्य की हद कहाँ तक ?

पुण्य की हद पाप से बचने मात्र तक ही सीमित है। चाहे जितना उत्कृष्ट पुण्योपार्जन किया जावे तो भी पुण्य से कभी धर्म नहीं होता है, मात्र बाह्य जड़ पदार्थों का ही संयोग प्राप्त हो सकता है। पुण्य की मर्यादा जानने के लिये पहले यह जान लेना जरूरी है कि पुण्य क्या वस्तु है ? पुण्य आत्मा का एक विकारी भाव है। आत्मा के भावों के भेद निम्न प्रकार हैं—

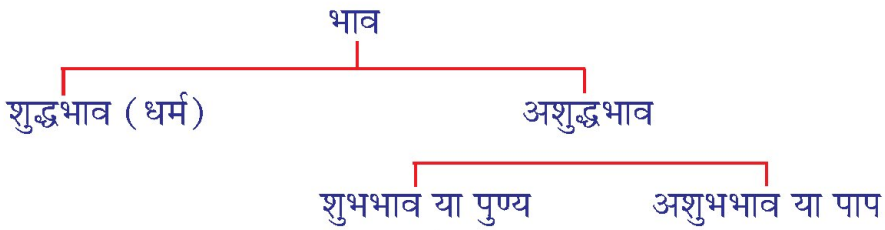

इस कोष्टक से ज्ञात होगा कि पुण्य, धर्म नहीं है, बल्कि आत्मा का एक अशुद्धभाव है। पर लक्ष से पैदा हुए शुभभाव पुण्य हैं और अशुभभाव पाप हैं। इन दोनों से सर्वथा पृथक् जो आत्माश्रित शुद्धभाव हैं, वे ही धर्म हैं। पुण्य, पाप शरीरादि की बाह्य क्रिया से नहीं होते परन्तु आत्मा के भावों से होते हैं। उपवास किया, भोजन का त्याग किया, परन्तु यह पुण्य का कारण नहीं, उसमें जितनी कषाय की मन्दता होगी, उतना ही पुण्य है। बाह्यरूप में अन्न का त्याग करना आत्मा के वश की बात नहीं। यदि बाह्य क्रिया से ही पुण्य-पाप होता हो तो ऑपरेशन करनेवाले डॉक्टर को पाप ही लगना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। ऑपरेशन करते समय उसके भावों के अनुसार पाप, पुण्य होगा। शरीरादि की किसी भी क्रिया को आत्मा नहीं कर सकता, आत्मा तो मात्र भावों का ही कर्ता है। अत: सिद्ध है कि पुण्य-पाप दोनों आत्मा के विकारीभाव हैं। अब पुण्य की मर्यादा का विचार करना चाहिए।

पुण्य आत्मा का विकारी भाव है। धर्म आत्मा का अविकारी भाव है। विकारी भाव से अविकारीपने की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: स्वत: सिद्ध है कि पुण्य से धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। न पुण्य, धर्म में सहायक है। पुण्य का फल संसार है। पुण्य से जड़वस्तु का संयोग होता है। जड़वस्तु से आत्मा का कल्याण और सहाय नहीं हो सकता। संयोगाधीन शुभाशुभ विकारी भाव यदि जीव करे तब होता है परन्तु उनका फल संसार ही है। पाप से बचने के लिये पुण्य का आश्रय ग्रहण करने का निषेध नहीं है, परन्तु दृष्टि में उसका आदर न होना चाहिए। आत्मस्वरूप के ज्ञान के पश्चात् तथा वीतरागता के पूर्व मध्यावस्था में पुण्य का शुभ भावों की विद्यमानता होती है; ऐसा जानकर पुण्य को कोई वीतरागता का सहायक मान बैठे तो यह उचित नहीं, क्योंकि पुण्य-पाप का अभाव होने पर ही वीतरागता प्रगट होती है। पुण्य का सद्भाव रहते हुए कोई वीतराग नहीं बना। अत: वीतरागता में पुण्य तो विघ्नरूप है, न कि सहायकरूप।

इससे यह तात्पर्य नहीं कि पुण्य करना ही छोड़ दो। पाप से बचने के लिए पुण्य का निषेध नहीं है। परन्तु 'पुण्य करते-करते धर्म होगा।' इस मान्यता का निषेध है। 'पुण्य से न धर्म होता है, न आत्मा का हित' यह दृष्टि में पुण्य का ऐसा तद्दन अस्वीकार हुए बिना धर्म की शुरुआत भी नहीं हो सकती। इससे निश्चित हुआ कि—

(१) पुण्य, धर्म नहीं, धर्म का अंग नहीं, धर्म का सहायक भी नहीं।

(२) जब तक अन्तरंग में पुण्येच्छा विद्यमान है, तब तक धर्म की शुरुआत भी नहीं। अत: पुण्य की रुचि धर्म में विघ्नकारिणी है।

(३) पुण्य की हद मात्र पाप से बचने तक ही सीमित है। चाहे जितना उत्कृष्ट पुण्य बांधे परन्तु उससे धर्म नहीं होता, मात्र बाह्य जड़ संयोग होता है। सारांश यही कि पुण्य का प्रवेश अन्तरंग आत्मस्वरूप में नहीं, आत्मा के बाहर ही उसका स्थान है, इसलिए उसका फल भी बाह्य पदार्थ का संयोग ही हो सकता है। ★

★ वस्तु का शाश्वत स्वभाव ★

वस्तु अकृत है, अर्थात् किसी के द्वारा बनायी नहीं गयी है। वस्तु स्वयंसिद्ध है अर्थात् अनादि अनन्त है। वस्तु का स्वभाव वस्तु से अभिन्न है। चूंकि वस्तु अनादि अनन्त है; इसलिए वस्तु का स्वभाव जो धर्म है, वह भी अनादि अनन्त है। 'वत्थु सहावो धम्मो' वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। क्योंकि स्वभाव वस्तु का धर्म है, इसलिए यह स्वत: सिद्ध है कि धर्म किसी ने नया नहीं ढूँढ निकाला, वह तो अनादि काल से ही चला आ रहा है। अनादि काल से आगत धर्म का

प्रकाश सत्पुरुषों ने किया है, अर्थात् उनने धर्म को समझाया है–उसका निर्माण नहीं किया है। किसी ने विचारों के द्वारा उत्पन्न नहीं कर दिया है, किन्तु वह जैसा है, वैसा ही सर्वज्ञ भगवान की वाणी द्वारा बताया है।

वस्तु का स्वभाव (अर्थात् गुण) स्थिर एकरूप रहता है, इसलिए तीन लोक और तीन काल में धर्म एकरूप ही है, वह बदलता नहीं है। गुण की अवस्था समय समय पर बदलती रहती है। चूँकि वस्तु स्थिर रहकर भी बदलती रहती है, इसलिए यदि अखण्ड एकरूप वस्तु के प्रति लक्ष जाये तो शुद्धता प्रगट होती है और यदि अवस्था के प्रति लक्ष जाता है तो अशुद्धता प्रगट होती है। वस्तु और उसका धर्म अभिन्न है, इसलिए धर्म अन्तर में से प्रगट होता है, बाहर से नहीं आता। धर्म प्रगट होने के लिये मात्र आन्तरिक स्वभाव की प्रतीति और प्रतीति के अनुसार स्वरूप स्थिरता की आवश्यकता है।

★ ★ ★ ★

भवभ्रमण का कारण

परपदार्थ से मुझे लाभ होता है अथवा कर्म मुझे भवभ्रमण कराते हैं, यह मान्यता ही जन्म-मरण का कारण है। त्रिकालाबाधित सिद्धान्त है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से एक तत्त्व की अन्य तत्त्व में नास्ति है। ''आत्मा है'' ऐसा कहने पर अनन्त पर पदार्थों की (राग-द्वेष और कर्म की) आत्मा में नास्ति है, ऐसा हुआ। जो पर रूपावस्थावाला है, वह स्व (आत्मा) का क्या लाभ या क्या हानि कर सकता है ? जो पर से आत्मा का हानि-लाभ समझते हैं, उन्हें यथार्थ में परतत्त्व से पृथक् आत्मतत्त्व की श्रद्धा ही नहीं है।

प्रश्न – ऊपर कहा गया है कि एक तत्त्व में पर की तत्त्व की नास्ति है। किन्तु आत्मा में यदि कर्म न हो तो आत्मा की परिभ्रमण कैसे ?

उत्तर – कर्म की तो आत्मा में त्रिकाल नास्ति है। परन्तु आत्मा की क्षणिक विकारी मान्यता है कि पर से मुझे लाभ होते हैं; और कर्म मुझे भवभ्रमण कराते हैं। यह मान्यता ही जन्म-मरण का कारण है। इस उल्टी मान्यता से ही आत्मा रुलता-फिरता है, कर्म ने नहीं रुलाया। आत्मा के स्वभाव में तो जन्म-मरण की नास्ति है। आत्मा का लाभकारी उसका अन्तरस्वभाव है और नुकसारकारी क्षणिक पर्याय में है, आत्मा के मूल स्वभाव में नहीं। आत्मा को पर से हानि या लाभ नहीं हो सकता।

प्रश्न – जो पर से आत्मा की हानि या स्वरूप को लोप नहीं तो फिर आत्मा की हानि किससे होती है ?

उत्तर – अपने स्वतन्त्र स्वभाव को न मानकर पर से मुझे लाभ होते हैं – ऐसा मान बैठने से ही आत्मा की हानि होती है—यथा – वज्रवृषनाराच संहननवाला शरीर होवे तो केवलज्ञान होवे, इत्यादि प्रकार की विपरीत मान्यताओं द्वारा उत्पन्न क्षणिक विकारीभाव ही हानि का हेतु है। इतना होने पर भी रागद्वेषादिक क्षणिक विकारीभाव आत्मा के त्रिकालवर्ती चैतन्यस्वभाव की हानि नहीं कर सकते।

महान उपकारी भगवान कुन्दकुन्दाचार्य

पोंष कृष्ण अष्टमी को भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव को आचार्यपदवी मिलने का महामांगलिक दिन है। जैन शासन पर आचार्यदेव का महान उपकार है। इससे सुवर्णपुरी में यह दिन बहुत ही उल्लासपूर्वक उजवाया था। भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव का पूजन एवं अपूर्व उल्लास से भक्ति भी हुयी थी।

प्रश्न – आत्मा का संसार-भ्रमण क्यों होता है ?

उत्तर – पर तत्त्व मुझे लाभ-हानि पहुँचाता है, इस नास्ति की अस्ति होना तथा मेरा स्वरूप ही मुझे लाभ पहुँचाता है, इस अस्ति की नास्ति होना ही भवभ्रमण कारण है।

राग-द्वेष क्षणिक है। दो समय के राग-द्वेष कभी एकसाथ नहीं होता है। एक क्षणवर्ती राग-द्वेष की अन्य क्षण में सत्ता नहीं परन्तु आत्मा का त्रिकालवर्ती स्वरूप तो सर्वदा ही एकरूप है, अबाधित है। क्षणिक राग-द्वेष भाव त्रिकालीक स्वरूप का कैसे नाश कर सकते हैं ? त्रिकालवर्ती भाव ही क्षणिक विकार का नाश करता है।

यह त्रिकालस्वरूप की दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है। नित्य का बल से ही अनित्य का नाश हो सकता है किन्तु अनित्य किसी नित्य को नुकसान नहीं पहुँचाता है। प्रभु ! तेरी प्रभुता की बात एकबार तो कानपर पड़ने दे ! तूने अपनी प्रभुता को पहिचाना ही नहीं और अनादि से अपना लक्ष्य क्षणिकभाव पर ही रखा है। नित्य स्वरूप पर जोर ही नहीं दिया, यही जन्म-मरण का मूल है।

स्वभाव में न तो जन्म-मरण है और न जन्म-मरण के कारण राग-द्वेषादिभाव ही हैं। जन्म-मरण का कारण परतत्त्व भी कदापि नहीं है। जन्म-मरण का कारण तो क्षणिक पर्याय में भ्रान्ति होती है, वह है। इस भ्रान्ति का नाश होते ही यह ज्ञान हो जाता है कि जन्म-मरणादि भाव मेरे स्वरूप में है ही नहीं। ऐसी श्रद्धा जागृत होने पर जन्म-मरण रहता ही नहीं।

दुनिया माने चाहे न माने परन्तु यह त्रिकाल सत्य है। सत्य पराश्रयी नहीं, अपितु

वस्तुस्वभाव ही सत्य है। सम्यक्त्वी इस स्वभाव को स्वीकार करता है और विभाव का नकार करता है। 'मैं सच्चिदानन्द स्वरूप अनन्त गुणों का पिण्डरूप एक स्वतन्त्र तत्त्व हूँ' ऐसी श्रद्धा जिसे हो जाती है, उसे जन्म-मरण की शंका ही नहीं। आत्मा! अपने स्वरूप को स्वीकार तो सही। अन्यथा आँखे मींचकर कहीं का कहीं पहुँच जाएगा। सत्यस्वरूपज्ञान के ऐसे अवसर दुर्लभ होते हैं, अतः इसी क्षण स्वरूप की पहिचान कर ले।

★ ★ ★ ★

हे जगत के जीवों! मानो, मानो!!

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥६१॥ *(समयसार कलश)*

अर्थ—इस प्रकार वास्तव में अपने को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भावों का कर्ता है। परभाव (पुद्गलभाव) का कर्ता कदापि नहीं है। इसी बात के समर्थन में कहा है कि—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

अर्थ—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है। वह आत्मज्ञान के सिवाय किसी वस्तु का कर्ता कैसे हो सकता है? आत्मा परभाव का कर्ता है—ऐसा मानना और कहना व्यवहारी जीवों का मोह है, अज्ञान है।

हे भाई! तू ज्ञानस्वरूप है। जानना, यही तेरा कार्य है। जानने के सिवाय अन्य कुछ करना तेरा स्वरूप ही नहीं। यह देह तेरी नहीं, देह की क्रिया भी तेरी नहीं, फिर तू देह की क्रिया का कर्ता कैसे हो सकता है? हे आत्मा! तेरे ज्ञायकस्वभाव में पुण्य-पाप का अस्तित्व ही नहीं। पुण्यभाव भी तेरे ज्ञायक स्वभाव से विरुद्धभाव है, इसलिए तू पुण्य में धर्म न मान। पुण्य से आत्मा का कल्याण नहीं होता, इस भेद को दुनियावाले क्या जाने?

ज्ञानी फरमाते हैं कि हे आत्मा! तू ज्ञानस्वरूप है। तू अपने को समझ। तू तेरा आत्मा को प्रभु स्थाप, अन्य भावों का आदर छोड़ तो तेरी मुक्ति निश्चित है। समयसार की प्रथम गाथा में ही आचार्यदेव ने फरमाया है कि मैं और तू सिद्ध हैं। तेरी और अपनी आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करता हूँ। इसलिए सिद्धों को जो भाव नहीं होते, उनका आदर छोड़ दे। तेरी आत्मा सिद्ध सदृश ही है। उसमें सिद्धत्व की स्थापना करने पर तेरे अन्दर अन्य भावों का समावेश न हो सकेगा।

यह संसार महाभयानक दु:ख से भरा हुआ है, आत्मधर्म की पहिचान के बिना इस भव भ्रमण का अन्त नहीं। इसलिए दु:ख के आत्यन्तिक क्षय के लिए धर्म का ही सेवन करो। प्रत्येक आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप स्वतंत्र है, वीतराग स्वरूप है, सिद्ध समान है। जैसा सिद्ध भगवान का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है। ऐसे स्वरूप को पहिचान कर उसी में स्थिर होजा-यही मोक्ष है। तेरा स्वरूप तो सर्वदा पूर्ण है, परन्तु तुझे उसकी खबर नहीं, इसीलिए तू उसका आनन्दानुभव नहीं कर सकता। इसीलिए ज्ञानी तुझे अपने स्वरूप को पहचानने के लिए कहते हैं।

तू स्व से स्वस्वरूपी है, पर स्वरूप से नहीं। पर रूप को अपना रूप मानकर हे जीव! अनादिकाल से तू संसार में भटक रहा है। श्री सर्वज्ञदेव फरमाते हैं कि तू ज्ञायक है। जानने के सिवाय तेरा अन्य कुछ स्वरूप नहीं। राग-द्वेष तेरा स्वरूप नहीं, मात्र तू उनका ज्ञाता ही है। शरीर में रोग आने पर भी रोग का मात्र तू ज्ञाता ही है। शरीर तेरा है ही नहीं। त्रिकाल और तीन लोक की प्रतिकूलता आ जाय तो भी तू उसका ज्ञाता ही है। तेरे ज्ञायकस्वभाव को रोकने में कोई भी समर्थ नहीं। ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को जान और उसमें स्थिर हो जा। तभी तुझे दु:ख नहीं रहेंगे और तेरा स्वरूप का अपूर्व सुख तेरा अनुभव में आयेंगे। तेरे अपूर्व आत्मिक आनन्द के सामने इन्द्र का पद या चक्रवर्ती की ऋद्धि सड़ा हुआ तृण के समान तुच्छ है। तेरा स्वरूप तो आनन्द-उर्मियों से तरंगित हो रहा है। यह आनन्द प्रतिक्षण तुझमें भरा है। इसका उपभोग कर। पर के भोगने की इच्छा छोड़ दे।

हे भव्य! हे वस्तु! तू अपने को घोर दु:खरूपी संसार में न परिभ्रमित कर। तेरे अज्ञानमय क्रूर परिणाम का फल तुझे ही महा दु:खकारी और अनिष्टकारी होगा। अज्ञानभाव से जिन कर्मों को हँसता-हँसता बाँध रहा है, उनसे रो-रोकर भी छुटकारा न मिलेगा। इसलिए ऐसे अज्ञानमय दुष्टकृत्यों को छोड़ दे, छोड़ दे। अब सावधान हो, सावधान हो! सर्वज्ञ प्रणीत जिनधर्म अंगीकार कर और जिनधर्मानुसारी होकर आत्मभान प्राप्त कर।

हे भाई! तू उत्तम जीव है। अत्यन्त भव्य है। तेरी मुक्ति का अवसर समीप आया है। इसीलिए की सद्गुरुओं का यह उपदेश तुझे प्राप्त हुआ है।

अहा! कैसा पावन, हितकारी, निर्दोष और मधुर यह उपदेश है। ऐसे परम हितकारी उपदेश को कौन अंगीकार न करेगा, कौन न मानेगा?

दुनिया तो न मानेगी, न मानेगी। जिसे दुनिया में रहना है, जिसे जन्म-मरण करना है, जिसे पाप-पुण्यरूपी कीच में फंसना हो, वह इस बात को नहीं मान सकता। परन्तु जिसे दुनिया से पार होना है, जन्म-मरण रहित होना है, जिसे आत्मस्वरूप की दरकार हैं, वह इस बात को जरूर मानेगा। माने बिना चलेगा ही नहीं।

दुनिया माने चाहे न माने। आज माने, कल माने या वर्षों बाद माने। परन्तु दुनिया से पार होनेवाले अनन्त ज्ञानियों ने यह बात स्वीकारी है। जिन्हें अज्ञानियों की दुनिया में रहना है, संसार की रुचि है, जन्म-मरण का भय नहीं है, ऐसे अज्ञानी की दुनिया इस बात को नहीं मानेंगे। और जो इस बात को मानेगा, वह अज्ञानी नहीं रहेगा।

दुनिया के न मानने से ही सत्य को अन्यथा नहीं किया जा सकता। सत्य तो त्रिकाल सत्य है और वह वस्तु के आश्रय से टिका है। 'सत्' वस्तु का स्वरूप है। वस्तु त्रिकाल है तो सत् भी त्रिकाल है। 'सत्' के मानने वालों की संख्या थोड़ी है, इससे सत् की कोई हानि नहीं। क्योंकि सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं और न काल, क्षेत्र के परिवर्तन से ही सत् में कोई परिवर्तन होता है। क्योंकि सत् काल या क्षेत्र के सहारे नहीं रहा हुआ।

सत् के माननेवालों की संख्या हमेशा ही कम रही है। एक बार भी सत् को यथार्थरूप से जो जान लेता है, वह दीर्घकाल तक संसार में नहीं रह सकता। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में भव्यजीवों को उद्‌बोधन करते हैं कि—

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंते।
तं गिण्हणियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं॥२०५॥

सोरठा –

ज्ञानगुणों से हीन, बहुजन इसे न पा सकें॥
तू पहचान प्रवीण, जो मोक्षेच्छा है तुझे॥

अन्वयार्थ—ज्ञानगुण से हीन बहुत से लोग इस पद को नहीं पा सकते। यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो नियत ऐसा इस ज्ञान को ग्रहण कर।

टीका—कर्म में (कर्मकाण्ड) में ज्ञान का प्रकाश न होने से इन सबसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाश होने से मात्र ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस वास्ते बहुसंख्यक जीव क्रियाकाण्ड करते हुए भी इस ज्ञान पद को प्राप्त नहीं कर सकते। इस वास्ते कर्म से मुक्त होने की इच्छा रखनेवालों को मात्र ज्ञान के आलम्बन द्वारा ही यह नियत ऐसा एक पद प्राप्त करना योग्य है।

भावार्थ—ज्ञान से ही मोक्ष होता है, कर्म से नहीं। इसलिए मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिए।

यही उपदेश है—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्च मेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥२०६॥

सोरठा-

वह ही सुख की रीति, इसमें ही तू तृप्त रह॥
इसमें कर तू प्रीति, इसमें ही सन्तुष्ट रह॥

अन्वयार्थ—हे भव्य प्राणी! तू इसी में (ज्ञान में) नित्य रत हो, प्रीतिवान हो, इसी में सन्तुष्ट रह, इसी में तृप्त हो। इस तरह करने से तुझे उत्तम सुख होगा।

टीका—हे भव्यजीव! यथार्थरूप से ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा निश्चय कर ज्ञानमात्र में ही प्रीति कर। यह ज्ञान ही सत्य कल्याण है, यह ही यथार्थ अनुभवनीय है, ऐसा जानकर सर्वदा ज्ञानमात्र से ही तृप्त हो। इस तरह वचनातीत सुख प्राप्त होगा। उसी क्षण वह सुख स्वानुभवयुक्त होगा, दूसरे से क्या पूछता है?

भावार्थ—ज्ञानमयी आत्मा में लीन होना, उसमें ही सन्तुष्ट होना, उसमें ही तृप्त होना परमध्यान है। इससे वर्तमान में भी आनन्द की प्राप्ति होती है और कुछ समय पश्चात केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसे सुख को प्रति प्राणी स्वानुभव से ही जानता है, अन्य का उसमें प्रवेश नहीं।

★ ★ ★ ★

★ प्रश्नोत्तर ★

प्रश्न—संसारी जीवों को पुण्य भला आत्मा का सहायक या उपकारी क्यों प्रतीत होता है?

उत्तर—अनादिकाल से इन जीवों ने आस्रव का स्वरूप या लक्षण नहीं जाना है, इसीलिए उन्हें ऐसा प्रतीत होता है।

प्रश्न—क्रोधादिक भाव मेरा कार्य है, ऐसा कौन मानता है?

उत्तर—अज्ञानी संसारी जीव ही ऐसा मानता है कि मैं कर्ता और क्रोधादि भाव मेरा कार्य है।

प्रश्न—क्रोधादि भाव मेरा कार्य है—ऐसा अज्ञानी जीव मानते हैं, इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर—अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि काम लेते समय नौकर, चाकर, स्त्री, पुत्र आदि से सख्ती से काम लोगे तो वे ठीक काम करेंगे, अन्यथा लापरवाही करेंगे।

प्रश्न—गृहादि की व्यवस्था में ऐसी सख्ती का लाभ तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं। तो फिर उपर्युक्त मान्यता वालों को दोषी कैसे मानें?

उत्तर—इस सख्ती को वीतरागता मानते हो या कषाय मानते हो? प्रश्नकार—इसे

वीतरागता तो कह नहीं सकते। कषाय ही कहा जाएगा। उत्तर—और कषाय तो पाप या दोष है ही। फिर पाप से बाह्य लाभ प्राप्त होता है, यह मान्यता में महादोष है। क्योंकि यदि पाप से ही बाह्य पदार्थादि का लाभ हो सकता हो तो सबसे बड़े पापी को संसार में सबसे बड़ी सुविधा होनी चाहिए। वास्तव में पाप का फल से सुविधा हो ही नहीं सकती।

प्रश्न—तो हमारी मान्यता की त्रुटि स्पष्ट समझाइए।

उत्तर—सांसारिक सगबड़ता पूर्व-पुण्य का फल है। संसार की व्यवस्था पूर्व पुण्य से ही होती है। मिथ्यादृष्टि का पुण्य ही पापानुबन्धी पुण्य होता है। उससे उसकी संसार की सारी व्यवस्था होती नहीं। पूर्व जन्म में पापानुबन्धी पुण्य का उपार्जन किया और अज्ञानभाव का नाश किया नहीं। अत: पुण्य का फल भोगते समय क्रोधादि पापभाव करते हैं। ध्यान रहे कि वर्तमान संसार की सहूलियतें या बाधाएँ धर्म करने में सहायक या विघ्नरूप नहीं। परन्तु अज्ञानी अज्ञानवश ऐसा मान बैठता है कि 'मेरे क्रोधादि की सख्ती से व्यवस्था ठीक हो रही है, मैंने होशियारी से काम निकाल लिया।' वास्तव में सुव्यवस्थादि पूर्व पुण्य से स्वयमेव हो रही है, न कि क्रोधादि भावों से। अत: स्पष्ट है कि क्रोधादि भावों को जो आत्मा का कार्य मानता है, वह अज्ञानी है।

प्रश्न—'क्रोधादि' इस शब्द में आदि शब्द से क्या प्रयोजन है?

उत्तर—इस आदि शब्द में मिथ्यात्व (मोह) और राग-द्वेष का समावेश है।

प्रश्न—जो व्यक्ति क्रोधादि को आत्मा का कार्य मानते हैं, उन्हें शास्त्रीय परिभाषा में क्या कहते हैं?

उत्तर—अज्ञानी, पर्यायदृष्टि, दीर्घ-संसारी तथा मिथ्यादृष्टि।

प्रश्न—जो क्रोधादिक भावों तथा आत्मा को यथार्थ लक्षणों द्वारा भिन्न-भिन्न मानते हैं, उन्हें शास्त्रीय परिभाषा में क्या कहते हैं?

उत्तर—ज्ञानी, अल्प संसारी, सम्यग्दृष्टि, आत्मज्ञानी।

प्रश्न—What is the cause of continuous cycle of excistence ? नित्य प्रवर्तित होनेवाले संसारचक्र का क्या कारण है?

उत्तर—It is wrong belief and errorfeeding passions which are the cause of continuous cycle of excistence.

विपरीत श्रद्धा एवं भूल पोषक कषाय ही नित्य प्रवर्तित संसार-भ्रमण का कारण है। (भूल पोषक कषाय को शास्त्र परिभाषा में अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।) ★

मनुष्यभव व्यर्थ चला जायेगा

भृगु पुरोहित के दो लड़के कह रहे हैं कि—माता! हमें दूसरा भव नहीं करना है।

''अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं ने वय अत्थि किंचि सद्धाखमं ने विण इत्तुरागं॥''

दो लड़के छोटी उम्र के हैं, उन्हें अवधिज्ञान नहीं है किन्तु जाति-स्मरण ज्ञान हुआ है, आत्मा का ज्ञान हुआ है। वैराग्य होने पर वे दोनों लड़के माँ-बाप से कह रहे हैं कि—''हे माता! हे पिता! हम आज ही आत्मा की निर्मल शक्ति को अंगीकार करेंगे। पूर्ण विश्वास, पूर्ण निश्चय से हम कह रहे हैं कि हमें दूसरा भव धारण नहीं करना, संसार में पुनः नहीं आना। आत्मशक्ति के बल से हम कह रहे हैं कि संसार में पुनः शरीर नहीं धारण करना। आत्मा के शुद्ध चिदानन्द स्वरूप का जहाँ भान होता है, वहाँ दूसरा भव करना नहीं होता। इस भव के बाद अब न किसी से मातारूप सम्बन्ध होगा, न पिता का सम्बन्ध। हे माता! तुझे दुःख होगा, हमारे वियोग में तू रोएगी परन्तु आगे से अन्य किसी माता को हम रुदन का अवसर न देंगे। हम अशरीरी सिद्ध हो जावेंगे, हमें फिर संसार में नहीं आना।''

यह कौन कह रहे हैं! छद्मस्थ जीव! केवलज्ञान नहीं हुआ परन्तु सम्यग्दर्शन के बल से ऐसा कह रहे हैं।

माता कह रही हैं—''बेटा! अभी छोटे बालक हो, इसलिए संसार का सुख भोगकर पीछे जाना। हम सब साथ जायेंगे। तुमने विषयों देखा नहीं है, इससे तृष्णा रह जायेगी। इसलिए भुक्त भोगी होकर पीछे निकलो।''

पुत्र कह रहे हैं ''माता! जगत में नहीं पामी हुई ऐसी कई चीज रह गई हैं! आत्मस्वभाव के सिवाय सभी वस्तुएँ हमने प्राप्त की हैं। पूर्वे एक नहीं प्राप्त हुआ ऐसा एक आत्मा ही रह गया है। अहमिन्द्रादि पद तक प्राप्त किये, अब शेष प्राप्तव्य क्या रह गया? हे माता! आज्ञा दे, हमारे प्रति रागभाव को छोड़, आत्मा में सच्ची दृष्टि जागृत कर, यही तेरे कल्याण का कारण होगी।''

कौन कह रहे हैं ये वचन? जागृत हुए दो बच्चे! आत्मोद्धार हित तत्पर हुए ये बालक रुकेंगे नहीं। रण के लिए उद्यत हुआ वीर क्या कभी पीछे कदम हटाता है। लड़के कह रहे हैं कि माता! हमें तो आज ही आज्ञा दे, हम तो आज ही धर्म को अंगीकार करेंगे।

इस प्रसंग पर विचारणीय है कि जो पहले से ही कहने लगते हैं कि आत्मा क्या करे, कर्म विकास नहीं होने देते, कर्म की बाधा हटे तो धर्म हो। इस तरह जो प्रथम ही कायरता दिखाते हैं

वे क्या खाक आत्मा का हित करेंगे। अरे भाई! तू चैतन्यमूर्ति! अनन्तशक्ति का धनी, तुझे ऐसे कायरपन की बात शोभा नहीं देती। आचार्यदेव कहते हैं कि ''हमने जो इस समयसार में भेदज्ञान की बात कही है, वह निर्भय और नि:शंक बनानेवाली है और वह तीन काल में फिरनेवाली नहीं है, ऐसी अप्रतिहत भाव की यह बात है। उसे सुनकर जिसे दृढ़ श्रद्धा जागेगी, उसे पुनर्जन्म का भय नहीं रह सकता। उसका पुरुषार्थ अवश्य जागृत होगा।''

इस मनुष्य भव को पाकर कुछ आत्मा का हित कर ले। इस पंचरंगी दुनियां में क्यों मोह करते है ? भाई! शरीर का एक पुद्गल परमाणु का भी बिगाड़ होने लगेगा तो तू उसे रोक नहीं सकेगा। तेरी मिथ्या धारणा है कि तू उस बिगाड़ को रोक सकेगा। लेकिन तू तेरी मूढ़ता का सेवन कर रहा है। पुद्गल की अवस्था जिस समय जिस प्रकार होने लायक है, वह नहीं फिरेगी। पाँच सौ या हजार का वेतन पाने पर ही फूलकर कुप्पा हो जाता है। किन्तु अरे प्रभु! बालुका गढ़ नहीं हो सकता, और धूम को नहीं पकड़ा जा सकता; ताट के कपड़े में वायु नहीं रह सकता; इस तरह पर को अपना नहीं किया जाता! अनन्त शक्ति के भण्डार चैतन्यदेव को भूल पर को अपनाता है तो यह मनुष्य भव व्यर्थ चला जाएगा। प्राणी! दुर्लभ समागम मिला है, कुछ आत्मा का हित साध ले।

★ ★ ★ ★

सुवर्णपुरी में मुक्ति का मंडप

पवित्र जैनदर्शन का परम सत्य अध्यात्म तत्त्वों का अद्वितीय प्रचार स्थानरूप प्रसिद्ध सुवर्णपुरी (सोनगढ़) में मगसिर सुदी १० रविवार के दिन तत्त्वप्रेमी मुमुक्षुओं का महान समूह का अति-अति उत्साहपूर्वक जो महान शासन प्रभावक प्रसंग बना हुआ है उसकी संक्षिप्त माहिती यहाँ पर दी जाती है।

'भगवान् श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मंडप' का शिलान्यास मुहूर्त प्रसंग पर इन्दौर से श्रीमन्त शेठ सर हुकमीचंदजी और उनके साथ शेठ नाथालालजी, पं. बंसीधरजी, पं. जीवन्धरजी, और पं. नाथुलालजी मार्गशीर्ष सुदी नवमी के दिन आया था। उनका भावभरा स्वागत करके स्वाध्याय मंदिर में लाया गया था, उसके बाद 'प्रवचनसारजी' का व्याख्यान हुआ था।

'व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय का परमार्थ (निश्चय) कारण नहीं है क्योंकि व्यवहार-रत्नत्रय विकल्परूप है। शुभराग है, उससे पुण्य है लेकिन धर्म नहीं है'— यह बात जब व्याख्यान

में आया तब शेठजी ने कहा कि—'पुण्य से धर्म नहीं होता' यह कहकर आप पुण्य से जीवों को छुड़ाते नहीं हो, लेकिन धर्म और पुण्य का सच्चा स्वरूप दर्शाकर धर्म में आगे बढ़ने के लिये फरमाते हो.....'

आगे चलकर व्याख्यान में ऐसा आया कि—''पूर्ण स्वभाव का सामर्थ्य द्वारा विकार को जीतकर पूर्ण स्वभाव जो प्रगट करता है, वही जैन हैं। जीव जब पूर्ण स्वभाव का निर्णय करता है, तब से उसको जैनत्व की शुरुआत होती है; उसके सिवाय जैनपना नहीं है।'' इस समय शेठजी बोल उठा कि ''बिल्कुल ठीक है, जैन कोई संप्रदाय, लिंग वा वेश नहीं है लेकिन आत्मस्वरूप ही जैन है-यह आपका कहना है।'' इस तरह शेठजी व्याख्यान के बीच में अनेकबार उत्साह में आकर बोलते थे।

पहले दिन शेठजी ने अपनी तरफ से रुपये ५०१ का दान जैन अतिथि सेवा समिति को जाहेर किया था।

दूसरे दिन (मार्गशीर्ष सुदी १० के दिन) प्रातः ८ बजे मंडप का शिलान्यास मुहूर्त था। प्रथम श्री सिद्धचक्र का पूजन हुआ। पूजन के बाद पूज्य गुरुदेवश्री ने मांगलिक प्रवचन में कहा कि—''आज कुन्दकुन्द प्रवचनमंडप का मुहूर्त है। कुन्दकुन्द भगवान का कहा हुआ शास्त्र प्रवचन को जो समझेगा, उसकी मुक्ति अवश्य होगी-वह 'मुक्ति का मंडप' का आज मंगलमुहूर्त है। सैंकड़ों मुमुक्षुओं अब तो तैयार हो गया है।''....

उसके बाद मुमुक्षुओं का जय जयकार ध्वनि के बीच में शेठजी द्वारा खातमुहूर्त विधि हुआ था। खातमुहूर्त विधि पूर्ण होते ही शेठजी ने कहा कि —यह भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रवचन मंडप का शिलान्य करने का सुअवसर प्राप्त होने से मैं मुझको भाग्यशाली मानता हूँ। यह महाराजजी का उपदेश के प्रभाव से बहोत जीवों को लाभ हुआ है। मेरा भी महाभाग्य है कि मुझे महाराजश्री के चरणों की सेवा का लाभ प्राप्त हुआ है। आप सब लोग महाराजजी से प्रकाशित सच्चा मोक्षमार्ग के उपदेश का निरंतर लाभ ले रहा हो, इसलिये आपको धन्य है। भविष्य में सैकड़ो जीवों इस तत्त्व का लाभ ले ऐसी हमारी भावना है। यह कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये मैं रुपये ११००१ (ग्यारह हजार एक) अर्पण करता हूँ। यह कार्य शीघ्र पूर्ण हो वह मेरी भावना है।

इसके बाद स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट की ओर से आभार व्यक्त किया गया और शिलान्यास मुहूर्त विधि का कार्य समाप्त हुआ। तुरंत ही स्वाध्यायमंदिर में व्याख्यान हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री का व्याख्यान का आज का ढंग कोई अजब ही था, सीमंधर प्रभु और कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रति उन्हों की आन्तरिक भक्ति आज बाहर में व्यक्त हो जाती थी। उन्होंने किया हुआ मांगलिक प्रवचन का एक छोटा भाग यहाँ दिया जाता है—

''आज मुक्तिमण्डप का मांगलिक है। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा श्री सीमंधरदेव की पास कुन्दकुन्द भगवान गया था, आठ दिन रहा था और साक्षात् दिव्यध्वनि सुनकर अंतर से विशेष

अनुभव में स्थिरता कर, जो शास्त्र रचा है उसमें अपूर्व अप्रतिहतभावों उतारा है, उसकी जो जीव प्रतीत करे वह अपनी मोक्ष परिणति को लेते समय बीच में सीमंधर परमात्मा को उतारता है कि हे परमात्मन! आपने पूर्ण परिणति को प्राप्त की है, और आपको साक्षी रखके हमें भी साधक में से पूर्ण होगा, बीच में विघ्न है ही नहीं–बीच में विघ्न आयेगा ही नहीं। जो भाव से साधकदशा में ऊपड़ा है, वही भाव से पूर्णता करेंगे, उसमें फरक नहीं है–शंका नहीं है।

ॐकार ध्वनि में से कुन्दकुन्द भगवान वस्तु का स्वभाव ले के आया और उसकी कुछ प्रसादी यहाँ पर भव्य मुमुक्षुओं को पीरसाती है, यह तो बीज बोया गया है, इस बीज में से ही केवलज्ञान का पाक पकने का है; ऐसा स्वभाव की प्रतीत हुई है, वह ही महा मंगल है।

व्याख्यान सुनते समय शेठजी अनेक बार उल्लसित हो जाता था और बोला था कि, ''महाराज! मेरे आनन्द का पार नहीं है, आप तो श्री वीर भगवान और कुन्दकुन्दाचार्य का मार्ग प्रकाशित कर रहा हो, मेरा आनन्द की क्या बात करुँ!''

व्याख्यान के उपरान्त तत्त्वचर्चा होती थी, चर्चा का मुख्य विषय उपादान–निमित्त के संबंध में था। चर्चा के विषय का स्पष्टीकरण हो रहा था, उस समय शेठजी बोल उठा कि—''आप निमित्त का निषेध नहीं करते हो किन्तु आप तो ऐसा दिखलाते हो कि जब उपादान स्वयं कार्यपरिणत होता है, तब निमित्तद्रव्य स्वयं हाजिर होता ही है।''

दोपहर का व्याख्यान के बाद हमेशा जिनमन्दिर में भक्ति होती थी, भक्ति में भक्तों का उल्लास देखकर शेठजी भी उल्लसित हो जाता था।

छेल्ले दिन (मगसिर सुद ११ के रोज) जब शेठजी ने शाम को जाने की इच्छा प्रदर्शित की तब प्रमुखश्री ने शेठजी को विशेष रुकने की आग्रहपूर्ण विनती की, उस समय शेठजी ने कहा कि ''मैं महाराजजी के उपदेश का लाभ अनेकबार अवश्य उठाऊंगा, और मेरी तो भावना है कि मेरा समाधि मरण भी महाराज की समीप में हो....''

प्रात:काल का व्याख्यान के बाद शेठजी ने नेमनाथ भगवान के वैराग्य का ''बारहमास'' का स्तवन गाया था। अंतिम व्याख्यान में जब आया कि–''जो भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है वह भाव से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती लेकिन उस भाव को स्वभाव का जोर से छेदकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।'' यह सुनते ही शेठजी उल्लसित हो गया और बोला कि ''अहो! सम्यग्दृष्टि के सिवाय यह बात कौन समझ सकता है? आपकी पास तो मोक्ष जाने का सीधा रास्ता है।'' इस तरह तीनों दिन शेठजी व्याख्यान आदि में अत्यन्त उत्साह से भाग लेते थे।

मगसिर सुद ११ के दिन रात्रिचर्चा पूर्ण होने के बाद कुन्दकुन्द भगवान का जय–जयकार के साथ शेठजी की मोटर रवाना हुई।